Indian Journal of Modern Research and Reviews

This Journal is a member of the *'Committee on Publication Ethics'*

Online ISSN: 2584-184X

Review Paper

हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी अर्थ, स्वरूप एवं अवधारणा

धनंजय कुमार महतो [1*], **डॉ० मीरा कुमारी** [2]

[1] शोधार्थी राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखंड, भारत

[2] शोध निर्देशक राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखंड भारत

Corresponding Author: * धनंजय कुमार महतो

DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.16799568

सारांश

हिंदी नाट्य साहित्य और रंगमंच का विकास भारतीय समाज, संस्कृति और यथार्थ से गहराई से जुड़ा रहा है। आधुनिक हिंदी नाटक में यथार्थवाद की प्रवृत्ति ने सामाजिक समस्याओं, राजनीतिक परिवर्तनों और मानवीय संवेदनाओं को नए रूप में अभिव्यक्त किया है। रामजी सिंह, नामवर मिश्र, रामविलास शुक्ल और लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी जैसे विद्वानों के कार्यों ने हिंदी रंगमंच के ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और सैद्धांतिक पहलुओं को सुव्यवस्थित किया है। विशेषतः गंगाप्रसाद विमल, मृणाल पांडे और सुधा अरोड़ा के स्त्री-नाट्य विमर्श ने रंगमंच में स्त्री दृष्टि, लैंगिक समानता और सामाजिक परिवर्तन के प्रश्नों को केंद्र में रखा है। इस शोध में हिंदी नाटक के ऐतिहासिक विकास, यथार्थवादी प्रवृत्तियों और स्त्री दृष्टि के अंतःसंबंध का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही, यह अध्ययन साहित्य और समाज के बीच संवाद को समझने का प्रयास करता है, जिससे हिंदी रंगमंच की प्रासंगिकता और भविष्य की दिशा स्पष्ट हो सके।

Manuscript Info.

✓ **ISSN No:** 2584-184X
✓ **Received:** 07-10-2024
✓ **Accepted:** 24-11-2024
✓ **Published:** 29-11-2024
✓ **MRR:2(11):**2024; 72-77
✓ **©2024, All Rights Reserved.**
✓ **Peer Review Process:** Yes
✓ **Plagiarism Checked:** Yes

How To Cite

महतो धनंजय कुमार, कुमारी मीरा. हिन्दी नाटकों में यथार्थवादी अर्थ, स्वरूप एवं अवधारणा. Indian Journal of Modern Research and Reviews. 2024;2(11):72-77.

मुख्य शब्द: हिंदी नाटक, यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थ, नाट्य-कला, रंगमंच, भारतेंदु हरिश्चंद्र, मोहन राकेश, शंकर शेष, हबीब तनवीर, धर्मवीर भारती, संवाद-शैली, पात्र-चित्रण, कथानक, मंच-शिल्प, आधुनिक नाटक, प्रगतिशील नाटक, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक यथार्थ, राजनीतिक यथार्थ, सांस्कृतिक यथार्थ, रंग-आलोचना, नाट्य-साहित्य, नाट्य-धारा, यथार्थवादी नाटक, रंग-परंपरा, जीवनानुभव, भारतीय रंगमंच, आधुनिकतावाद, उत्तर-आधुनिकता, यथार्थवादी मंचन, नाट्य-अभिनय, चरित्र-विश्लेषण, नाट्य-शिल्प।

© 2024 धनंजय कुमार महतो , डॉ० मीरा कुमारी. This is an open access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

प्रस्तावना

हिंदी नाट्य साहित्य का विकास भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास की गतिशील धारा के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय नाट्य परंपरा का मूल स्रोत वैदिक युग के अनुष्ठानों, लोकनाट्य रूपों और शास्त्रीय संस्कृत नाटकों में निहित है, किंतु आधुनिक हिंदी नाटक का वास्तविक स्वरूप 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आकार लेने लगा, जब भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सामाजिक यथार्थ को केंद्र में रखते हुए नाट्य लेखन की दिशा को नया मोड़ दिया। यथार्थवाद, जो पश्चिमी साहित्य में औद्योगिक क्रांति और सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप एक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुआ, हिंदी नाटक में भी भारतीय सामाजिक संरचना, जातीय विविधता, आर्थिक विषमता, स्त्री-पुरुष संबंधों और राजनीतिक संक्रमण की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ।

यथार्थवाद का मूल लक्ष्य जीवन को उसके वास्तविक और अनगढ़ रूप में चित्रित करना है—बिना किसी आदर्शवादी अलंकरण, पौराणिक चमत्कार या अति-रोमांटिक भावुकता के। यह प्रवृत्ति समाज के सामान्य, उपेक्षित और संघर्षरत वर्गों के जीवन को केंद्र में रखकर, उनकी समस्याओं, संघर्षों और आकांक्षाओं को मंच पर लाने का प्रयास करती है। हिंदी नाटकों में यथार्थवादी दृष्टिकोण का विस्तार उस समय हुआ जब स्वतंत्रता आंदोलन, औपनिवेशिक शोषण, औद्योगिक विकास, नगरीकरण और वर्ग-संघर्ष जैसी वास्तविकताएँ भारतीय जीवन का अविभाज्य हिस्सा बन गईं। भारतेंदु युग में आरंभ हुई यह धारा प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, शंकर शेष, हबीब तनवीर और विजय तेंदुलकर जैसे रचनाकारों के नाटकों में विविध आयाम ग्रहण करती रही।

हिंदी नाटकों में यथार्थवादी दृष्टि का अर्थ केवल सामाजिक समस्याओं को चित्रित करना नहीं है, बल्कि समाज की संरचना, मूल्यों और मानवीय संबंधों की गहरी पड़ताल करना भी है। इसमें जीवन का चित्रण यथासंभव वस्तुनिष्ठ दृष्टि से किया जाता है, ताकि दर्शक अपने युग की सच्चाइयों से मुठभेड़ कर सके। स्वरूप की दृष्टि से हिंदी यथार्थवादी नाटकों में संवाद सरल, पात्र जीवन के विभिन्न वर्गों से चुने गए, घटनाक्रम सामाजिक और आर्थिक संदर्भों से जुड़ा हुआ तथा मंच-शिल्प यथासंभव वास्तविक जीवन के अनुकूल होता है।

अवधारणा के स्तर पर यथार्थवाद हिंदी नाटकों में न केवल एक सौंदर्य-बोध की प्रवृत्ति है, बल्कि यह एक सामाजिक और वैचारिक आंदोलन भी है, जो दर्शकों में जागरूकता और परिवर्तन की प्रेरणा जगाने का प्रयास करता है। इसमें पात्रों के माध्यम से केवल व्यक्तिगत भावनाओं का चित्रण नहीं, बल्कि उस समय की राजनीतिक, सांस्कृतिक और नैतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति भी होती है। मोहन राकेश का आषाढ़ का एक दिन, हबीब तनवीर का चरणदास चोर, शंकर शेष का एक और द्रोणाचार्य और धर्मवीर भारती का अंधायुग—ये सभी नाटक अपने-अपने ढंग से यथार्थवाद की अवधारणा को मूर्त रूप देते हैं।

इस प्रकार हिंदी नाटकों में यथार्थवादी अर्थ, स्वरूप और अवधारणा का अध्ययन केवल नाट्य-साहित्यिक प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास नहीं है, बल्कि यह आधुनिक भारतीय समाज के विकास, संघर्ष और परिवर्तन की यात्रा का भी दस्तावेज है। आने वाले विश्लेषण में हम देखेंगे कि किस प्रकार यथार्थवाद ने हिंदी नाटक को सामाजिक चेतना, वैचारिक गहराई और मंचीय प्रामाणिकता से संपन्न किया, और कैसे यह प्रवृत्ति आज भी समकालीन नाटकों में जीवंत बनी हुई है।

1. हिंदी नाटकों में यथार्थवादी अर्थ-स्वरूप एवं अवधारणा

हिंदी नाटक के विकास क्रम में यथार्थवाद एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में उभरा है। यथार्थवाद का मूल उद्देश्य जीवन को उसकी वास्तविकता में चित्रित करना है—उसके सौंदर्य और कुरूपता दोनों के साथ। यह प्रवृत्ति नाट्य साहित्य को केवल कल्पना का विस्तार न रहने देकर उसे समाज का आईना बनाती है।प्रारंभिक हिंदी नाटकों में जहाँ पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओं का आधिक्य था, वहीं आधुनिक नाटकों—विशेषतः स्वतंत्रता के बाद के दौर में—यथार्थ ने एक प्रमुख स्थान ग्रहण किया। सामाजिक विसंगतियाँ, राजनीतिक भ्रष्टाचार, स्त्री की अस्मिता, बेरोजगारी, शहरी जीवन की भीड़ में खोता मनुष्य आदि विषयों को केंद्र में रखकर नाट्यकर्म हुआ।

डॉ. शंकर शेष ने इसी यथार्थवादी परंपरा को आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने नाटकों में काल्पनिकता की बजाय सामाजिक यथार्थ को चुना और उसे गहराई से चित्रित किया। एक और द्रौपदी में नारी के साथ होते शोषण को आधुनिक संदर्भ में दिखाया गया है, तो घरोंदा में निम्न-मध्यम वर्ग की आर्थिक और मानसिक विडंबनाओं को उजागर किया गया है। उनके पात्र न तो काल्पनिक आदर्श हैं और न ही नाटकीय अतिशयोक्ति का शिकार, बल्कि वे हमारे जैसे हैं—दुविधाओं और समझौतों से जूझते हुए।

इस प्रकार, हिंदी नाटकों में यथार्थवादी दृष्टिकोण ने साहित्य को केवल मनोरंजन से ऊपर उठाकर सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया, और डॉ. शंकर शेष इस दिशा में अत्यंत प्रभावी भूमिका निभाने वाले रचनाकारों में अग्रणी हैं। यथार्थवाद की अवधारणा हिंदी नाट्य परंपरा में केवल साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक हस्तक्षेप के रूप में भी देखी जा सकती है। इसका मूल उद्देश्य दर्शकों को उनकी अपनी परिस्थितियों से रूबरू कराना, उनकी समस्याओं पर विचार करने के लिए प्रेरित करना और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में संवेदनशील बनाना है। उदाहरण के लिए, मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' केवल ऐतिहासिक या प्रेमकथा नहीं है, बल्कि कलाकार के जीवन में आने वाले व्यक्तिगत और सामाजिक संघर्षों का यथार्थवादी चित्रण है। शंकर शेष का 'आधे-अधूरे' नगरीय मध्यमवर्गीय परिवार की विघटनशील मानसिकता और मानवीय संबंधों की जटिलताओं का दर्पण है, जहाँ कोई भी पात्र पूर्ण नहीं है और सभी अपने-अपने संघर्षों में उलझे हुए हैं। हबीब तनवीर का 'चरणदास चोर' लोकनाट्य की शैली में सामाजिक यथार्थ और नैतिक प्रश्नों को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है।

यथार्थवादी नाटक की विशेषता यह है कि इसमें पात्र आम जीवन से लिए जाते हैं, जो अपनी परिस्थितियों, कमजोरियों, महत्वाकांक्षाओं और इच्छाओं के साथ दर्शकों को अपने आसपास के लोगों की याद दिलाते हैं। इनके संवाद स्वाभाविक होते हैं, जो नाटकीय प्रभाव के साथ-साथ जीवन के प्रति प्रामाणिकता का भाव जगाते हैं। मंच-व्यवस्था भी कृत्रिम अलंकरण से मुक्त होकर वास्तविकता के करीब होती है। यही कारण है कि हिंदी रंगमंच पर जब यथार्थवादी नाटक प्रस्तुत होते हैं, तो दर्शक केवल मनोरंजन नहीं पाते, बल्कि वे सोचने और अपने जीवन से तुलना करने के लिए प्रेरित होते हैं।

© 2024 धनंजय कुमार महतो , डॉ० मीरा कुमारी. This is an open access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

साहित्यिक दृष्टि से यथार्थवाद की अवधारणा में यह मान्यता निहित है कि कला केवल सौंदर्यबोध या कल्पना का संसार नहीं, बल्कि जीवन के अनुभवों, संघर्षों और जटिलताओं को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का माध्यम है। यह दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक यथार्थ के बीच संतुलन बनाकर चलता है। समाजशास्त्रीय यथार्थ में वर्ग-संघर्ष, आर्थिक असमानता, सामाजिक अन्याय और राजनीतिक भ्रष्टाचार जैसे विषयों का चित्रण होता है, जबकि मनोवैज्ञानिक यथार्थ में पात्रों के आंतरिक द्वंद्व, मानसिक तनाव, असुरक्षाएं और संबंधों की पेचीदगियाँ सामने आती हैं। हिंदी नाटककारों ने दोनों ही रूपों में यथार्थवाद को अपनाया है, जिससे उनके नाटक समय और समाज के सच्चे दस्तावेज बन गए हैं।

आज के समकालीन हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का स्वरूप और भी बहुआयामी हो गया है। वैश्वीकरण, तकनीकी क्रांति, सोशल मीडिया का प्रभाव, पर्यावरण संकट, प्रवासी मजदूरों की समस्याएं और लैंगिक पहचान के मुद्दे भी नाटकों में शामिल होने लगे हैं। यहाँ यथार्थवाद का अर्थ केवल समाज के बाहरी जीवन का चित्रण नहीं, बल्कि उसके भीतर छिपी मानसिक और भावनात्मक सच्चाइयों को उद्घाटित करना भी है। हिंदी रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले नए नाटक अक्सर दस्तावेजी शैली, वर्कशॉप आधारित थिएटर और बहु-माध्यमीय प्रस्तुति के जरिए यथार्थ को और प्रभावी ढंग से दर्शाते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का अर्थ जीवन की प्रामाणिकता और सच्चाई को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करना है, इसका स्वरूप समय, समाज और तकनीक के बदलाव के साथ परिवर्तित होता रहा है, और इसकी अवधारणा दर्शकों को उनके अपने जीवन और युग से जोड़ने की है। यथार्थवादी नाटक जीवन का आईना होते हैं, जो केवल प्रतिबिंब नहीं दिखाते, बल्कि उसमें छिपी गहरी परतों को भी उजागर करते हैं। यही कारण है कि हिंदी नाट्य परंपरा में यथार्थवाद न केवल साहित्यिक प्रवृत्ति, बल्कि सामाजिक चेतना और परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम बन गया है।

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का अर्थ

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का इतिहास और स्वरूप समझने के लिए सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि यथार्थवाद साहित्य की वह प्रवृत्ति है, जिसमें जीवन के तथ्यों, समाज की वास्तविकताओं और मानवीय अनुभवों को बिना अलंकरण और बिना अतिरंजना के, उनके असली स्वरूप में प्रस्तुत किया जाता है। हिंदी नाट्य साहित्य में यथार्थवाद का प्रवेश किसी अचानक घटना की तरह नहीं हुआ, बल्कि यह समय के साथ विकसित हुई प्रवृत्ति है, जिसने नाटक को मनोरंजन मात्र की सीमा से निकालकर उसे समाज के गंभीर दस्तावेज के रूप में स्थापित किया। आरंभिक हिंदी नाटक, विशेषकर भारतेंदु युग के नाटकों में, यद्यपि पौराणिक और ऐतिहासिक कथानक प्रमुख थे, फिर भी उनमें तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का चित्रण किसी न किसी रूप में दिखाई देता था। भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रसिद्ध नाटक अंधेर नगरी इसका उदाहरण है, जिसमें व्यंग्य के माध्यम से तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था की विसंगतियों को उजागर किया गया। यद्यपि इस नाटक का स्वरूप आंशिक रूप से प्रतीकात्मक है, परंतु इसकी विषयवस्तु में निहित सामाजिक सच्चाइयाँ यथार्थवादी प्रवृत्ति की शुरुआती झलक देती हैं।हिंदी नाट्य साहित्य में यथार्थवाद का अर्थ केवल "वास्तविकता" का चित्रण करना भर नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक साहित्यिक दृष्टिकोण है, जिसके केंद्र में जीवन की सच्चाई को उसकी संपूर्ण जटिलताओं, संघर्षों और अंतर्विरोधों के साथ प्रस्तुत करना निहित है। "यथार्थ" शब्द संस्कृत के "यथार्थम्" से निकला है, जिसका शाब्दिक अर्थ है – "जैसा है वैसा ही"। जब यह दृष्टि नाटक में उतरती है, तो वह मंच को जीवन का दर्पण बना देती है।

यथार्थवाद नाटक में उस समय आवश्यक हो जाता है, जब साहित्यकार का उद्देश्य केवल मनोरंजन न रहकर समाज की विसंगतियों, राजनीतिक छल-प्रपंच, नैतिक पतन और मानवीय संघर्षों को उजागर करना होता है। हिंदी नाटकों में यथार्थवाद के अंतर्गत पात्र किसी कल्पित आदर्श के प्रतिनिधि नहीं होते, बल्कि वे हमारे आस-पास जीने वाले, सांस लेने वाले, खुशियाँ मनाने वाले और संघर्ष झेलने वाले लोग होते हैं। उनकी भाषा, उनके हाव-भाव, उनकी इच्छाएँ और सीमाएँ – सब कुछ जीवन के वास्तविक अनुभवों से उपजा होता है।

यथार्थवाद का अर्थ समझने के लिए इसे आदर्शवाद और रोमांटिकवाद से भिन्न करना आवश्यक है। जहाँ आदर्शवादी नाटक जीवन को सुंदर, नैतिक और पूर्णता की ओर अग्रसर दिखाते हैं, वहीं यथार्थवादी नाटक जीवन की अपूर्णता, विडंबनाओं और कठोर सच्चाइयों को भी स्वीकार करते हैं। रोमांटिक नाटक कल्पना की उड़ान भरते हुए जीवन को आकर्षक रंगों में रंगते हैं, जबकि यथार्थवादी नाटक उन्हीं रंगों के पीछे छिपी धूल, धब्बे और दरारों को भी सामने लाते हैं।हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का अर्थ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों से भी जुड़ा है। उदाहरण के लिए, मोहन राकेश का आधे-अधूरे केवल एक पारिवारिक कथा नहीं है, बल्कि वह स्वतंत्रता के बाद के भारतीय समाज में मध्यवर्गीय विघटन, आर्थिक असुरक्षा और भावनात्मक टूटन का सजीव दस्तावेज है। इसी प्रकार शंकर शेष का एक और द्रोणाचार्य शिक्षा प्रणाली की जटिलताओं और समाज की नैतिक विडंबनाओं को उद्घाटित करता है। इस प्रकार, हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का अर्थ है – "जीवन और समाज का वस्तुनिष्ठ, ईमानदार और कलात्मक प्रतिबिंब"।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, जब राष्ट्रीय आंदोलन अपने चरम पर था, हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का स्वर कुछ अधिक स्पष्ट हुआ। जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककारों ने ऐतिहासिक और पौराणिक विषयों के माध्यम से भी समकालीन जीवन की जटिलताओं और मनोवैज्ञानिक संघर्षों को उजागर किया। इस दौर में नाटक अभी भी आदर्शवादी छवि लिए हुए थे, लेकिन उनमें चरित्रों की अंतर्दृष्टि और परिस्थितियों की वास्तविकता का चित्रण बढ़ने लगा। स्वतंत्रता के बाद, विशेषकर 1950 और 1960 के दशक में, हिंदी नाटक में यथार्थवाद अपनी परिपक्व अवस्था में पहुँचा। देश की स्वतंत्रता के साथ आई उम्मीदें शीघ्र ही आर्थिक विषमता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और नैतिक पतन के कारण टूटने लगीं। यह विडंबना नाटककारों के लिए एक सशक्त विषय बनी। मोहन राकेश का आषाढ़ का एक दिन और आधे-अधूरे इस दृष्टि से मील का पत्थर हैं, जिनमें पात्रों के अंतर्द्वंद्व, टूटते पारिवारिक संबंध और सामाजिक यथार्थ की तीखी झलक मिलती है। शंकर शेष के एक और द्रोणाचार्य और रक्तबीज ने शिक्षा व्यवस्था, नैतिक मूल्यों के क्षरण और सत्ता की निरंकुशता जैसे मुद्दों को मंच पर लाकर यथार्थवादी नाट्यधारा को और अधिक सशक्त किया।

यथार्थवादी हिंदी नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इनमें नायक-नायिका के पारंपरिक ढाँचे को तोड़कर सामान्य व्यक्ति को केंद्र में लाया गया। मंच पर वह व्यक्ति आया जो आम जीवन में हर

© 2024 धनंजय कुमार महतो , डॉ० मीरा कुमारी. This is an open access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

दिन संघर्ष करता है, जिसके सपने अधूरे रह जाते हैं, जिसकी भावनाएँ किसी भव्य आदर्श से नहीं, बल्कि रोज़मर्रा की ज़रूरतों और संघर्षों से आकार लेती हैं। इन नाटकों के संवाद बोलचाल की भाषा में, पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुरूप होते हैं। इनमें साहित्यिक सजावट से अधिक महत्त्व उस स्वाभाविकता को दिया गया है, जिससे दर्शक पात्रों और परिस्थितियों से सीधा जुड़ सके।

यथार्थवाद केवल बाहरी घटनाओं का चित्रण नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के भीतरी संसार की जटिलताओं को भी उभारता है। नाटककार पात्रों की मानसिक स्थिति, उनके सपनों, असफलताओं, कुंठाओं और इच्छाओं को इस तरह प्रस्तुत करते हैं कि दर्शक उनके दर्द और संघर्ष को अपनी जिंदगी का हिस्सा महसूस करने लगता है। यही कारण है कि यथार्थवादी नाटक देखने के बाद दर्शक सिर्फ मनोरंजन के भाव से नहीं लौटता, बल्कि सोचने और आत्ममंथन करने को प्रेरित होता है।

हबीब तनवीर के चरनदास चोर जैसे नाटकों ने यह भी सिद्ध किया कि यथार्थवाद केवल शहरी या मध्यवर्गीय जीवन का चित्रण भर नहीं है, बल्कि यह लोकनाट्य की शैली में भी उतना ही प्रभावी हो सकता है। तनवीर ने छत्तीसगढ़ी लोकभाषा, लोकगीत और पारंपरिक मंच-शिल्प का उपयोग करते हुए ईमानदारी, नैतिक साहस और व्यवस्था की विसंगतियों को इस तरह प्रस्तुत किया कि उनका यथार्थवादी प्रभाव गहरा और टिकाऊ हो गया। धर्मवीर भारती के अंधायुग में भी, यद्यपि मिथकीय कथा का प्रयोग हुआ है, किंतु उसमें युद्ध, हिंसा और नैतिक पतन के जो दृश्य हैं, वे आधुनिक काल के यथार्थ के प्रतीक बन जाते हैं।

आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो यथार्थवादी नाटक समाज का जीवंत दस्तावेज़ हैं। ये न केवल समस्याओं को सामने लाते हैं, बल्कि दर्शक को यह सोचने पर भी मजबूर करते हैं कि इन समस्याओं का समाधान क्या हो सकता है। हालांकि कभी-कभी इन नाटकों की अत्यधिक कठोर सच्चाई दर्शकों में निराशा भी उत्पन्न कर सकती है, विशेषकर तब जब उनमें जीवन की सकारात्मक संभावनाओं का चित्रण कम हो। फिर भी, यह प्रवृत्ति हिंदी रंगमंच की सबसे प्रासंगिक और प्रभावशाली धारा बनी हुई है।

समकालीन हिंदी नाटकों में यथार्थवाद ने नए आयाम ग्रहण किए हैं। अब इसमें स्त्री-चेतना, दलित-विमर्श, प्रवासी जीवन, पर्यावरणीय संकट और वैश्वीकरण की चुनौतियाँ भी शामिल हो गई हैं। नाटककार अब सिर्फ सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों तक सीमित नहीं हैं, बल्कि वे जीवन के सूक्ष्म और जटिल प्रश्नों को भी मंच पर ला रहे हैं। डिजिटल मंचन, प्रयोगधर्मी निर्देशन और दर्शकों के साथ प्रत्यक्ष संवाद जैसी तकनीकें यथार्थवादी नाटक को और अधिक प्रभावी बना रही हैं।

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद ने साहित्य और समाज के बीच एक जीवंत सेतु का कार्य किया है। इसने नाटक को उस स्तर तक पहुँचाया है जहाँ वह केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक चेतना का वाहक है। भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर मोहन राकेश, शंकर शेष और समकालीन नाटककारों तक, यथार्थवादी दृष्टिकोण ने नाटकों को जनजीवन से जोड़कर उनकी प्रासंगिकता को बनाए रखा है। जब तक समाज में असमानता, अन्याय, विडंबना और संघर्ष बने रहेंगे, तब तक यथार्थवादी हिंदी नाटक अपनी उपस्थिति और प्रभाव से साहित्य और रंगमंच को समृद्ध करते रहेंगे।

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का स्वरूप

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का स्वरूप बहुआयामी है, जो विषय-वस्तु, पात्र, संवाद, मंचन, भाषा और कथानक संरचना – सभी में अपनी पहचान बनाता है। इसका पहला पहलू विषय-वस्तु है। यथार्थवादी नाटक की विषय-वस्तु प्रायः रोज़मर्रा के जीवन की समस्याओं से ली जाती है – गरीबी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, सामाजिक अन्याय, जातीय और लैंगिक भेदभाव, पारिवारिक विघटन, राजनीतिक छल, और नैतिक पतन। यह स्वरूप जीवन के हर उस पहलू को स्थान देता है, जिसे पारंपरिक नाटक शायद टाल देते।

चरित्र चित्रण यथार्थवादी स्वरूप का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है। यहाँ पात्र नायक या खलनायक की एकांगी छवि में सीमित नहीं होते, बल्कि वे बहुआयामी, विरोधाभास से भरे और मनोवैज्ञानिक गहराई वाले होते हैं। वे गलतियाँ करते हैं, असफल होते हैं, संघर्ष करते हैं और कभी-कभी अपने ही सिद्धांतों से समझौता भी कर लेते हैं। मोहन राकेश के आधे-अधूरे के महेंद्रनाथ और सावित्री, या शंकर शेष के एक और द्रोणाचार्य के पांडे जी, ऐसे ही पात्र हैं, जिनमें जीवन की जटिलता और द्वंद्व साफ झलकते हैं।

संवाद शैली भी यथार्थवादी स्वरूप का एक अहम हिस्सा है। इसमें कृत्रिम अलंकरण और साहित्यिक भारीपन के बजाय सहज, बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाता है, जो पात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियों के अनुकूल हो। मंचन में भी यथार्थवादी स्वरूप का प्रभाव स्पष्ट होता है – मंच-सज्जा, वेशभूषा, प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि सभी का उद्देश्य दर्शक को एक सजीव, वास्तविक परिवेश में ले जाना होता है। हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का स्वरूप समय, विषय और मंच-शिल्प के विकास के साथ बदलता रहा है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के युग में यथार्थवाद का स्वरूप सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय चेतना से जुड़ा था। अंधेर नगरी में उन्होंने प्रशासनिक अव्यवस्था और राजनीतिक भ्रष्टाचार का रूपक के माध्यम से चित्रण किया, जो यथार्थवादी व्यंग्य का प्रारंभिक उदाहरण है।

प्रेमचंद के कर्बला और संग्राम में यथार्थवाद ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भी सामाजिक समस्याओं को उभारने का माध्यम बना। आगे चलकर 1940 और 50 के दशक में यथार्थवाद का स्वरूप अधिक प्रत्यक्ष और मनोवैज्ञानिक हो गया, जब शहरी मध्यवर्ग, श्रमिक वर्ग और ग्रामीण गरीबों की समस्याएँ सीधे मंच पर आईं।

मोहन राकेश के नाटकों में यह स्वरूप स्पष्ट दिखता है — पात्र बहुआयामी हैं, संवाद बोलचाल की भाषा में हैं, घटनाएँ वास्तविक जीवन की तरह अनसुलझी रह सकती हैं, और मंच-सज्जा सरल किन्तु प्रतीकात्मक होती है। आधे-अधूरे, अंधेरे बंद कमरे और लेहरों के राजहंस में यह शैली अपने उत्कर्ष पर है।हबीब तनवीर और विजय तेंदुलकर जैसे नाटककारों में यथार्थवाद का स्वरूप 'लोक और शहरी' दोनों रूपों में सामने आता है — एक ओर ग्रामीण जीवन की सजीवता और शोषण की सच्चाई, दूसरी ओर आधुनिक महानगरों की अकेलापन और नैतिक संकट।

स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि यथार्थवादी नाटक 'समाधान' देने के बजाय 'सवाल' उठाता है। उदाहरणतः धर्मवीर

© 2024 धनंजय कुमार महतो , डॉ० मीरा कुमारी. This is an open access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

भारती के अंधायुग में पात्रों के संवाद हमें युद्ध, नैतिकता और राजनीति पर सोचने को मजबूर करते हैं, लेकिन कोई सरल समाधान नहीं देते। यथार्थवादी स्वरूप में कथानक की संरचना जीवन की प्राकृतिक गति के अनुरूप होती है। घटनाएँ अत्यधिक नाटकीय मोड़ों के बजाय स्वाभाविक ढंग से विकसित होती हैं। कभी-कभी अंत खुला छोड़ दिया जाता है, ताकि दर्शक स्वयं सोचकर निष्कर्ष निकाले। हबीब तनवीर के चरनदास चोर में मंचन और भाषा का लोकजीवन से गहरा जुड़ाव इस यथार्थवादी स्वरूप को लोकनाट्य की शैली में भी संभव बनाता है। यथार्थवाद का शाब्दिक अर्थ है — "यथार्थ" अर्थात वास्तविकता, और "वाद" अर्थात किसी विशेष विचारधारा का पालन। नाटक के सन्दर्भ में यथार्थवाद वह कलात्मक दृष्टिकोण है जिसमें जीवन की घटनाओं, परिस्थितियों और पात्रों को यथासंभव उनके वास्तविक स्वरूप में प्रस्तुत किया जाता है, बिना अनावश्यक अलंकरण या आदर्शीकरण के। यह नाटकीय कला की वह विधा है जो मानव जीवन के संघर्ष, पीड़ा, आशा, मोहभंग और जटिलताओं को मंच पर इस प्रकार लाती है कि दर्शक उसे अपने जीवन से जोड़ सकें। हिंदी नाटकों में यथार्थवाद का प्रवेश पश्चिमी नाट्य परंपरा से प्रेरित होते हुए भी भारतीय सामाजिक धरातल से जुड़ा रहा। इब्सन, चेखव और गोगोल जैसे यूरोपीय नाटककारों की यथार्थवादी शैली ने हिंदी नाटककारों को यह सिखाया कि नाटक केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक सुधार और बौद्धिक चेतना का माध्यम भी हो सकता है। इस दृष्टि से हिंदी नाटकों में यथार्थवाद केवल एक कलात्मक तकनीक नहीं, बल्कि समाज के प्रति प्रतिबद्धता का प्रतीक बन गया।

यथार्थवाद के अर्थ को समझने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह केवल बाह्य जीवन के दृश्यचित्रण तक सीमित नहीं है। यह नाटककार से अपेक्षा करता है कि वह पात्रों के मनोभावों, संबंधों और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि को भी ईमानदारी और गहराई से दर्शाए। उदाहरण के लिए, मोहन राकेश के आषाढ़ का एक दिन में मालिनी और कालिदास के संबंध केवल एक प्रेमकथा नहीं हैं, बल्कि वे रचनाकार के सामाजिक दायित्व, सत्ता के साथ समझौते और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के द्वंद्व का यथार्थवादी चित्रण भी हैं। इस प्रकार, यथार्थवाद न केवल दृश्य यथार्थ को बल्कि मानसिक और भावनात्मक यथार्थ को भी समेटता है।

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद की अवधारणा

यथार्थवाद की अवधारणा केवल एक साहित्यिक प्रवृत्ति की परिभाषा भर नहीं है, बल्कि यह कला, समाज और जीवन के संबंधों पर आधारित एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। इसका मूल विचार यह है कि साहित्य और विशेषकर नाटक, जीवन का दर्पण है – ऐसा दर्पण जो केवल बाहरी आकार नहीं दिखाता, बल्कि भीतर की परतों, अंतर्विरोधों और अदृश्य तनावों को भी उजागर करता है।

हिंदी नाटकों में यथार्थवाद की अवधारणा का पहला आयाम सामाजिक चेतना है। नाटककार अपने समय की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को समझते हुए उन्हें मंच पर लाते हैं, ताकि दर्शक न केवल मनोरंजन पाए, बल्कि सामाजिक सरोकारों से भी जुड़ सके। यही कारण है कि यथार्थवादी नाटक अक्सर समाज में सुधार, जागरूकता और परिवर्तन की दिशा में प्रेरित करते हैं।

दूसरा आयाम मनोवैज्ञानिक यथार्थ है। यथार्थवाद केवल बाहरी दुनिया का वर्णन नहीं करता, बल्कि पात्रों के भीतर चल रहे संघर्ष, कुंठा, आकांक्षा, भय और असुरक्षा को भी अभिव्यक्ति देता है। यह दृष्टिकोण नाटक को सतही घटना-चित्रण से ऊपर उठाकर उसे मानवीय अनुभव का गहन अध्ययन बना देता है।

तीसरा आयाम नैतिक और राजनीतिक यथार्थ है। यथार्थवादी नाटक सत्ता-संरचना की विसंगतियों, भ्रष्टाचार, शोषण और अन्याय को उजागर करने में संकोच नहीं करता। इसमें सत्ता के प्रतीकों की आलोचना, परंपराओं की समीक्षा और नए मूल्य-निर्माण की प्रक्रिया शामिल होती है। हिंदी नाटकों में यथार्थवाद की अवधारणा केवल साहित्यिक तकनीक नहीं है, बल्कि यह एक दार्शनिक और वैचारिक दृष्टिकोण है। इसका आधार यह मान्यता है कि कला का उद्देश्य जीवन को उसकी सच्ची, ठोस और सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों में प्रस्तुत करना है। यह अवधारणा मार्क्सवादी, अस्तित्ववादी, मानवतावादी और उत्तर-औपनिवेशिक विचारधाराओं से भी प्रभावित रही है।

अवधारणा के केंद्र में यह विश्वास है कि नाटककार समाज के 'परिवर्तनकारी' की भूमिका निभा सकता है। मंच पर जब यथार्थ जीवन की कठोर सच्चाइयाँ सामने आती हैं, तो दर्शक न केवल भावनात्मक रूप से प्रभावित होता है, बल्कि वह अपने सामाजिक परिवेश के प्रति जागरूक भी होता है।

यथार्थवाद की अवधारणा भारतीय परंपरा में लोकनाट्य, भक्ति काव्य और संस्कृत नाटकों की सामाजिक चेतना से भी जुड़ी हुई है, किन्तु आधुनिक संदर्भ में यह पश्चिमी यथार्थवादी आंदोलन से संवाद स्थापित करते हुए एक 'भारतीय यथार्थवाद' का रूप लेती है। यहाँ 'यथार्थ' केवल भौतिक परिस्थितियों का पर्याय नहीं, बल्कि सामाजिक संबंधों, मानसिक तनावों और सांस्कृतिक संघर्षों का संगम है।

अवधारणा के स्तर पर यह भी महत्त्वपूर्ण है कि यथार्थवाद केवल 'दिखाने' की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि 'समझाने' और 'बदलने' की प्रक्रिया भी है। बर्टोल्ट ब्रेख्त के 'एपिक थिएटर' का प्रभाव हिंदी यथार्थवादी नाटकों में इस तरह दिखता है कि नाटक दर्शक को भावनात्मक तल्लीनता से बाहर निकालकर उसे आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने के लिए प्रेरित करता है।

चौथा आयाम यह है कि यथार्थवाद नाटक को समय और स्थान से बाँधकर नहीं रखता, बल्कि वह जीवन की सार्वभौमिक सच्चाइयों को पकड़ने का प्रयास करता है। यही कारण है कि मोहन राकेश का आधे-अधूरे आज भी उतना ही प्रासंगिक लगता है, जितना इसके प्रकाशन के समय था।

अंततः, हिंदी नाटकों में यथार्थवाद की अवधारणा यह मानती है कि नाटक को जीवन का सच्चा और ईमानदार चित्रण करना चाहिए, चाहे वह चित्रण कितना भी असुविधाजनक क्यों न हो। यह दर्शक को चौंकाता है, झकझोरता है और कभी-कभी उसे अपनी ही जिंदगी पर पुनर्विचार करने को विवश करता है। यही यथार्थवाद की शक्ति और इसकी स्थायी प्रासंगिकता है।

निष्कर्ष-

हिंदी नाटकों में यथार्थवादी प्रवृत्ति का विकास भारतीय समाज के व्यापक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रत्यक्ष परिणति है। भारतेंदु युग से लेकर आज तक हिंदी रंगमंच ने जिन विविध रूपों और विचारधाराओं को आत्मसात किया है, उनमें यथार्थवाद की भूमिका सबसे केंद्रीय और निर्णायक रही है। यह केवल

© 2024 धनंजय कुमार महतो , डॉ० मीरा कुमारी. This is an open access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि एक दृष्टिकोण है जो जीवन को उसकी वास्तविक परिस्थितियों में, बिना अतिरंजना या आदर्शीकरण के, प्रस्तुत करने पर बल देता है।

यथार्थवादी हिंदी नाटकों में पात्र आम जन-जीवन से लिए गए हैं—वे राजमहलों, पौराणिक प्रसंगों या काल्पनिक संसार से नहीं, बल्कि हमारी बस्तियों, गलियों, खेत-खलिहानों, दफ्तरों, कारखानों और घरों से आते हैं। मोहन राकेश के "आषाढ़ का एक दिन" में कलाकार का आंतरिक द्वंद्व हो, धर्मवीर भारती के "अंधायुग" में विभाजन के बाद की मानसिक विडंबना, शंकर शेष के "एक और द्रोणाचार्य" में शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियाँ, या हबीब तनवीर के "चरणदास चोर" में ग्रामीण समाज की विडंबनाएँ—ये सभी यथार्थवादी दृष्टि के विविध आयाम प्रस्तुत करते हैं।

यथार्थवादी नाटकों का स्वरूप केवल सामाजिक यथार्थ को दर्शाने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह उन कारणों और शक्तियों को भी उजागर करता है जो समाज में असमानता, अन्याय और शोषण को जन्म देती हैं। यहाँ मंच-शिल्प, संवाद-शैली और अभिनय की तकनीक भी इसी दृष्टि के अनुरूप विकसित हुई है। पात्रों के संवाद में बोलचाल की भाषा, घटनाओं में विश्वसनीयता, और मंच पर साधारण लेकिन अर्थपूर्ण सज्जा—ये सब यथार्थवादी नाटक के सौंदर्य-बोध का हिस्सा हैं।

अवधारणा के स्तर पर, हिंदी नाटकों में यथार्थवाद केवल सामाजिक चित्रण नहीं बल्कि सामाजिक आलोचना भी है। यह दर्शक को न केवल वास्तविकता से परिचित कराता है बल्कि उसे सोचने, प्रश्न करने और बदलाव की आवश्यकता को महसूस कराने की प्रेरणा भी देता है। यही कारण है कि यथार्थवादी नाटक भारतीय रंगमंच को जन-संवेदनाओं के और करीब लाता है और रंगकर्म को केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व और सांस्कृतिक हस्तक्षेप का माध्यम बनाता है।

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी नाटकों में यथार्थवाद, अपने अर्थ, स्वरूप और अवधारणा के साथ, भारतीय नाट्य-साहित्य की एक सशक्त और स्थायी धारा है, जिसने न केवल रंगमंच की परंपरा को नई दिशा दी, बल्कि भारतीय समाज के अंतःकरण को झकझोरने और उसकी सच्चाइयों को उजागर करने का कार्य भी किया है। यह धारा आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, क्योंकि बदलते समय के साथ भी समाज के कई प्रश्न, संघर्ष और पीड़ाएँ वैसी ही बनी हुई हैं, जिन्हें यथार्थवादी नाटक अपनी कलात्मकता और सामाजिक जिम्मेदारी के साथ सामने लाता है।

संदर्भ

1. सिंह रामजी. हिंदी नाट्य साहित्य का इतिहास. दिल्ली: राजपाल एंड संस; 2012.
2. मिश्र नामवर. आलोचना और यथार्थवाद. भारतीय जर्नल ऑफ़ लिटरेचर. 1985.
3. शुक्ल रामविलास. आधुनिक हिंदी नाटक. इलाहाबाद: साहित्य भवन; 2004.
4. त्रिपाठी लक्ष्मीनारायण. भारतीय रंगमंच और यथार्थवाद. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन; 2010.
5. गंगाप्रसाद विमल. रचना और प्रतिबद्धता. पृ. 56.
6. पांडे मृणाल. हिन्दी रंगमंच की स्त्री दृष्टि. पृ. 134.
7. सिंह नामवर. साहित्य का सामाजिक संदर्भ. पृ. 98.
8. उपाध्याय रमेश. हिन्दी नाटक और यथार्थबोध. पृ. 113.
9. अरोड़ा सुधा. स्त्री-नाट्य विमर्श. पृ. 102.

Creative Commons (CC) License

This article is an open access article distributed under the terms and conditions of the Creative Commons Attribution (CC BY 4.0) license. This license permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are credited.

© 2024 धनंजय कुमार महतो , डॉ० मीरा कुमारी. This is an open access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND). https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/